प्रारम्भिक वक्तव्य।

प्रस्तुत पुस्तक लेखक का वह निबन्ध है, जो दयानन्द जन्मशताब्दी के अवसर पर विशेषरूप से तैयार किया गया था और आर्यपरिषद् में पढ़ा गया था। शताब्दी के पश्चात् ही कई आर्य भाइयों के आग्रह पूर्ण पत्र आये, जिनमें इस निबन्ध के प्रकाशित करने पर ज़ोर दिया गया था। परन्तु उस समय मैंने निबन्ध को इस लिये नहीं प्रकाशित किया कि कदाचित् शताब्दी के अन्य निबन्धों के साथ प्रकाशित होगा। परन्तु जब शताब्दी की ओर से निबन्धों के पुस्तकाकार छपने का कोई प्रबन्ध न हुआ तो मैंने यह उचित समझा कि निबन्ध को प्रभात के दो अङ्कों में प्रकाशित किया जावे और साथ ही कुछ अधिक छपवा कर वह पुस्तकाकार भी निकाल दिया जावे। इस प्रकार अब यह निबन्ध प्रेमी, विचारक पाठकों के कर कमलों में सप्रेम समर्पित है।

हमें वैदिक सिद्धान्तों के गौरव की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि हम संसार के आगे रख सकें कि आधुनिक जगत् की किस समस्या का समाधान अमुक वैदिक सिद्धान्त या प्रणाली के द्वारा किया जाना है। केवल इसी प्रकार हम वर्तमान सभ्य जगत् को समझा सकते हैं कि उसकी प्यास वैदिक अमृत जल से बुझ सकती है। यह निबन्ध भी इसी उद्देश्य को लेकर एक चेष्टामात्र है। कहां तक निबन्धक इसमें सफल हुआ है, इसका उत्तर देना समालोचक विद्वानों का

काम है। लेखक ने समाज और व्यक्ति, परमार्थ, और स्वार्थ का जो समन्वय प्रकट किया है, वह उसका अपना विचार है जिसे या तो मौलिक कल्पना होने का गौरव प्राप्त हो सकता है अथवा केवल विकृत मस्तिष्क की दूरङ्गत कपोल-कल्पना मात्र समझा जा सकता है। लेखक अपने परिश्रम को पूर्णतया सफल समझेगा यदि समालोचक उसपर विचार करके अपनी सम्मति प्रकट करेंगे।

ऋषि दयानन्द का एक महान् कार्य वर्णाश्रम व्यवस्था का पुनरुज्जीवन करना था। और आर्यसमाज निस्सन्देह एक बड़े पाप का भागी होगा यदि वह इस ओर क्रियात्मक चेष्टा न करे। प्रस्तुत निबन्ध इस बात का दिखाने की चेष्टा है कि वर्णाश्रम व्यवस्था द्वारा इस बार इस पृथवी पर फिर स्वर्ग का राज्य स्थापित हो सकता है।

मेरठ कालेज
१७-१०-२६ } धर्मेन्द्रनाथ

ॐ

व्यक्तिगत जीवन व समाज संगठन

की

महती समस्या का समाधान

वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था

(ले०—प्रो० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री एम० ए० तर्कशिरोमणि)

व्यक्ति और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध एक ऐसी पहेली है, जिसे सुलझानेमें आधुनिक युग के बड़े २ मस्तिष्क असफल हो रहे हैं। व्यक्ति का समाज से क्या सम्बन्ध है? समाज और 'व्यक्ति' में कौन मुख्य है? क्या व्यक्ति का का अस्तित्व केवल समाज के लिए ही है? और उसके जीवन का कुछ मूल्य है, तो यही कि वह समाजरूपी मशीन का पुर्जा है जब तक कि वह मशीन में काम दें, उसके बाद उसे निकाल बाहर फेंकना अथवा दूसरे पक्ष के अनुसार, जिन व्यक्तियों से समाज बनता है, वही मुख्य हैं। समाज का अस्तित्व यदि सार्थक है, तो केवल इस लिये कि वह व्यक्तियों के जीवन के लिए उपयोगी है। व्यक्ति के जीवन को लक्ष्य में रक्खे बिना समाज निरर्थक ही रह जाता है। व्यक्ति की प्रधानता है, अथवा समाज की यह प्रश्न कदाचित् इतना ही पुराना है जितना कि मनुष्य समाज। हम इतिहास में एक अद्भुत रोचक दृश्य देखते हैं कि बा ी २ से एक २ पक्ष प्रबल

होता है। यदि एकबार हम व्यक्ति जीवन का प्राधान्य देखते हैं तो दूसरे समय में समाज की प्रधानता बढ़ती दिखाई देती है और फिर अगले युग में व्यक्ति का सिर समाज से ऊपर उठा दिखाई देता है। समाजशास्त्र के लेखक भी एकमत नहीं। एक व्यक्ति को प्रधान कहता है तो दूसरा समाज को तो तीसरा फिर व्यक्तिको,इस विषयमें अर्वाचीन समयमें (अर्वाचीन का अर्थ पश्चिम लिया जाता है क्योंकि इस युग में पश्चिम का राज्य है), पाश्चात्य लेखकों ने इस विषय पर कितनी ही पोथे पोथियें लिखी हैं। परन्तु कोई निश्चित सिद्धान्त स्थिर होता नहीं दिखाई देता। ऐसा मालूम होने लगता है, कि मनुष्य और समाज का सम्बन्ध भी कदाचित् एक ऐसी उलझन है, जिसे सुलझाना मनुष्य की शक्ति से बाहर है जिसके विषयमें मनुष्य निश्चितता(Definitness) और अन्तिमता (Finality) पर कदाचित् पहुंच ही न सकेगा।

व्यक्ति और समाज की समस्या केवल इतनी ही नहीं है-वह समाज शास्त्र से भी कहीं आगे तक पहुंची हुई है। उसकी गहराई में राजनीतिशास्त्र (Politics) और अर्थशास्त्र भी अन्तर्गर्भित समझने चाहिये। प्रजातन्त्र के अर्थों में अथवा एक राजतन्त्र राज्य की दृष्टि से भी कोई सरकार मनुष्य समाज की सम्मिलित आवाज़ के अतिरिक्त और क्या है। अथवा इसी को दूसरे रूप में लें तो कोई राजव्यवस्था मनुष्य समाज को बांधने वाली गांठ ही है। इसलिये राज-नीतिशास्त्र में भी मुख्य प्रश्न यह है कि राज्य और व्यक्ति

में क्या सम्बन्ध है। इस प्रश्न का उत्तर सर्वथा इस पर निर्भर है कि व्यक्ति और समाज का क्या सम्बन्ध है। सच तो यह है कि यदि हम प्रजातन्त्र के व्यापक अर्थ लें तो समाज और राज्य एक ही वस्तु हो जाते हैं। आचारशास्त्र भी ख़ासकर आजकल वह जिस अर्थ में लिया जाता है समाज को लक्ष्य में रखकर ही आचार की व्यवस्था करता है। वह जिस सदाचार का प्रतिपादन करता है, उसका समाज के बिना कोई अर्थ नहीं होता। इस लिये हम आचार शास्त्र की समस्याओं को तबतक सफलता पूर्वक हल नहीं कर सकते जबतक कि हम व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को भलीभांति न समझ लें।

पश्चिम के इतिहास में जहाँ कि अभी तक इस पहेली की घुण्डी नहीं खुल सकी है, व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध पर दृष्टिपात करना बहुत रोचक है। पाश्चात्य सभ्यता के इतिहास का प्रारंभ यूनान से होता है। यूनान में स्पार्टा और एथेन्स दो नगर सभ्यता के केन्द्र थे। स्पार्टा में हम पाते हैं कि व्यक्ति का जीवन समाज के अर्पण है। स्पार्टन लोगों ने इस बात को सीमा तक पहुंचा दिया था कि जो व्यक्ति समाज के लिये उपयोगी नहीं उसका अस्तित्व निरर्थक है। वे इसी लिये कमज़ोर बालकोंको पहाड़ की चोटी से नीचेको लुढ़काकर मार डालते थे। परन्तु यूनान का मस्तिष्क एथेन्स था, एथेन्स यूनान के दार्शनिक लोगों का क्रीड़ोद्यान था। वहाँ वे लोग जो व्यक्तिगत स्वच्छन्द कल्पनाओं के हिण्डोले में झूल रहे थे, अभी तक राज्य गुलाम बनना नहीं

सीखे थे, उन्होंने व्यक्तिगत जीवन सर्वथा राज्य के नाम पर समर्पण न किया था। यूनान के इतिहास में सम्पूर्णरूपेण जो भावना है वह व्यक्तित्व के प्राधान्य की है, समाज की नहीं। इसी लिये यूनान के भिन्न २ नगरों के प्रजातन्त्र बहुत फूले फले नहीं और इस व्यक्तित्व की भावना के कारण यह बात असम्भव होगई कि सारा यूनान मिलकर एक राष्ट्र हो जावे। यूनान के बाद रोम की बारी आती है, यहाँ हम पाते हैं कि व्यक्ति समाज के द्वारा पूर्णरूपेण पददलित है। राष्ट्र के लिए मरना, जीना, सब कुछ करना बस यही व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य है, 'राष्ट्र' और राज्य के नाम से रोमन इतिहास गूंज रहा है और उस कोलाहल में 'व्यक्तित्व' की आवाज़ सर्वथा दबगई है, इसी लिये युरोप के इतिहास में जहां अन्य सब विज्ञानों और विद्याओं के अग्रेसर यूनानी लोग हैं वहां राजनीतिशास्त्र, समाजव्यवस्था और क़ानूननिर्माण में रोम का मुख्य स्थान है। इन तत्वों का सब से प्रथम प्रचार रोम से ही होता है। रोम के दिनों में व्यक्ति पूर्ण रीति से 'राष्ट्र' का 'गुलाम' है 'व्यक्तित्व' का सर्वथा लोप है। यदि व्यक्ति के जीवन का कोई लक्ष्य है, ध्येय है तो 'रोम'। रोम के लिये सिपाही बनकर लड़ना उसका मुख्य कर्तव्य है, यदि वह 'खाता' पीता है और जो कुछ करता है तो वह सब इस लिए है कि वह 'रोम' के काम आ सके। यदि वह सन्तान उत्पन्न करता है तो भी इसी लिये कि रोम के लिए नये सिपाही उत्पन्न हो सकें। 'रोम' के अतिरिक्त उस के जीवन की और कोई आकाँक्षा नहीं। इस लिए रोमन

इतिहास के घड़े काल में हम पाते हैं कि विशेष कर कानून राज्यव्यवस्था युद्धविद्या आदि ऐसी ऐसी बातों की उन्नति हुयी है जो रोम की राजनैतिक उन्नति के साथ जुड़ी हुयी हैं, जिनका सम्बन्ध अधिकतर मनुष्य समाज से है न कि व्यक्ति से। हम देखते हैं कि 'व्यक्तित्व' सर्वथा समाज के अधीन हो चुका है। आगे बढ़िये योरुप के मध्यकाल पर दृष्टिपात करें तो एक बार फिर 'व्यक्ति' को हम उठता हुआ पातेहैं। मध्यकाल में हम देखते हैं कि व्यक्तियों ने समझ लिया है कि उनके जीवन का केवल यही उद्देश्य नहीं है कि वे एक मात्र 'राष्ट्र' की सेवा में अपने को अर्पण कर दें। वे राष्ट्र से अलग अपने व्यक्तित्व को अनुभव करते हैं। और अपनी 'व्यक्ति' की परिचर्या में समय लगाते हैं। इस लिये हम देखते हैं कि मध्यकालीन योरुप में ईसाई धर्म की उन्नति होती है। धर्म का अंकुर 'व्यक्ति' हृदय में ही फूलता फलता है। पर एक अद्भुत दृश्य हमारे सामने आता है, ज्यों ही मनुष्य समाज के राजनैतिक अङ्ग होने की गुलामी से मुक्ति पाता है एक दूसरी दासता उसे जकड़ लेती है। मध्यकाल में राजकीय शासन का स्थान चर्च शासन(Ecclesiastical Government) ग्रहण करता है। मनुष्य धीरे २ अपने व्यक्तित्व को खोकर उसका गुलाम होता चला जाता है। जहाँ पहिले उसके जीवन का उद्देश्य साम्राज्य सेवा थी अब चर्च सेवा रह जाती है। उसका व्यक्तित्व फिर दब गया। वह स्वयं अपने लिये न सोचता है और न विचारता है जो कुछ चर्च का शासन है वही उसके जीवन में प्रमाण है। इस प्रकार

जिस प्रकार रोम के दिनों में मनुष्य समाज राष्ट्र के रूप में व्यक्तित्व का लोप कर रहा था इस नये युग में समाज 'धर्मसंघ' बन कर चर्च के नाम पर 'व्यक्ति' की अवहेलना करता है। परन्तु यह अवस्था भी स्थिर नहीं रहती। १६ वीं सदी में फिर धार्मिक संशोधन (Religious Reformation) का युग आता है, जर्मनी में मार्टिन ल्यूथर चर्च को और उसके बड़े महन्त को चैलेञ्ज देता है और धर्म के क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की स्थापना करता है। ईसाईयों के रोमन कैथोलिक समुदाय के विरुद्ध प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन एक प्रकार से समाजिक संगठन के चर्च के द्वारा होने वाले अत्याचार के विरुद्ध व्यक्तिगत धार्मिक स्वाधीनता की क्रान्ति है। मध्यकाल के प्रारम्भ में 'व्यक्ति' ने 'धर्म' का सहारा लेकर समाज के राष्ट्रीय रूप से स्वतन्त्रता पायी थी। परन्तु फिर उसे धार्मिक दासताने सताया और अब वह अर्वाचिना युगके प्रारम्भ में धार्मिक संशोधन के साथ २ इस धार्मिक दासता से मुक्ति पाता है।

अर्वाचीन युग में धार्मिक दासता से मनुष्य ने मुक्ति पाली। पर क्या उसका व्यक्तित्व स्वतन्त्र होगया? सचमुच यह एक अद्भुत पहेली है। 'इतिहास अपने को दुहराता है' (History repeats itself) यह उक्ति कहीं घटती है तो इस विषय में। आधुनिक अवस्था पर दृष्टि डालें तो व्यक्तिगत जीवन की कुत्सित अवहेलना का निराला दृश्य हमारे सामने आता है। इस समय जो राष्ट्रीय प्रथा (System of Nationalities) अर्थात् मनुष्य का भिन्न २ राष्ट्रों में विभक्त

होकर अपने राष्ट्र की उन्नति के लिए प्रयत्न करने का दृश्य दिखाई देता है इसका यह रूप पिछली शताब्दी में ही हुआ है। इस समय सारी मनुष्य जाति राष्ट्रों में बंटी हुयी है और व्यक्ति उस राष्ट्र के अंग हैं। इन राष्ट्रों में से अमरीका, फ्रांस आदि कुछ ऐसे हैं जहां पूर्ण प्रजातन्त्र है और इङ्गलैण्ड में प्रजा की इच्छानुसार राजा के द्वारा शासन होता है। प्रत्येक दशा में व्यक्तिगत जीवन का सब से महत्वपूर्ण ध्येय राष्ट्र की सेवा करना है। व्यक्ति पर राष्ट्र का कितना आतङ्क है, इसका पैशाचिक दृश्य विगत महायुद्ध से प्रकट हुआ था जबकि लाखों व्यक्तियों को और राष्ट्रों को कलहाग्नि में ईंधनकी तरह झोंक दिया गया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि व्यक्तियों के जीवन का 'राष्ट्र' के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य है ही नहीं। वे राष्ट्र के नाम पर यदि जलती आग में भस्म कर दिये जावें तो भी ठीक है। राष्ट्रों की आज्ञा के आगे विना 'ननु' 'नच' किये व्यक्ति को सिर झुकाना चाहिए! सच तो यह है कि इस राष्ट्रीय वाद के युग में 'व्यक्ति' को जिस प्रकार राष्ट्र का गुलाम बनाया गया है वैसा इससे पूर्व किसी युग में न किया गया था। व्यक्ति ने राष्ट्र की वेदी पर अपने शरीर को ही नहीं अपितु मन और अन्तःकरण की भी बलि चढ़ा दी है। जब एक राष्ट्र दूसरे से युद्ध ठानता है तो उसके हज़ारों व्यक्ति हथियार लेकर हत्या के लिए निकल पड़ते हैं। नृशंसता, क्रूरता और रक्तपात सब देशभक्ति के नाम से प्रसिद्ध हैं। अस्तु यह तो इतिहास की पुरानी कहानी है। परन्तु यह कैसा नारकीय दृश्य है कि युद्ध के समय देश के वैज्ञानिक, जो कि ब्राह्मण

स्वरूप है जो उस सरस्वतीके मन्दिर के पुजारी हैं जिसमें कोई जाति या सम्प्रदाय का भेद नहीं, अपनी रसायनशालाओं में बैठकर मनुष्य की घातक—सामग्री तैयार करते हैं और ज़हरीली गैस बनाते हैं! यही राष्ट्र के नाम पर मनुष्य-मस्तिष्क का,नहीं सरस्वती देवी का-वलिदानहै! यहीं तक नहीं मनुष्य का हृदय, अन्तःकरण और आत्मा भी राष्ट्र का दास ही नहीं प्रत्युत राष्ट्र के लिए वलि चढ़ा हुआ है! मनुष्य राष्ट्र सेवा के नाम पर छल-कपट का पापमय जीवन व्यतीत करें तो भी सद्गुण है। क्योंकि राष्ट्र के लिये है! कतिपय महिलाए अपने राष्ट्र के स्वार्थ के लिए अपने सतीत्व को अर्पण करें—यह ऐसा दृश्य है जिससे हृदय कांप उठता है। यह शैतान का पैशाचिक नृत्य है! इसका नाम राष्ट्र के लिए मानव हृदय की वलि है। सत्य, दया, सदाचार सव कुछ 'राष्ट्रीयता' के लिये अर्पण है। राष्ट्र सब से बड़ी वस्तु है, राष्ट्र ही सद्गुणों का पैमाना है और राष्ट्र भक्तिया देश-भक्ति स्वयँ सवसे बड़ा सद्गुण है। इसलिए 'राष्ट्र' के नाम पर महायुद्ध के समय व्यक्तियों ने विवेक शून्य होकर घोर से घोर अनर्थ किया।

योरुप की कतिपय, भविष्य को देखने वाली आत्माओं ने, इस रहस्य को समझा, यूरोप के महायुद्ध के समाप्त होते ही रोमन रोलैण्ड ने १९१९ में मानवीय आत्मा की स्वतन्त्रता की घोषणा,(The Declaration of Independence of Human Mind)योरुप में प्रकाशित की जिसमें राष्ट्रीय-दासतासे मनुष्य की आत्मा के मुक्त होने की पुकार थी। मनुष्य की आत्माने अब तक बहुत सी दासताओं से मुक्ति पाई है किन्तु बीसवीं सदी

में उसे अब राष्ट्रीयता के दासत्व से मुक्ति पानी है। पिछले महायुद्ध की जड़ में यह राष्ट्रवाद ही काम कर रहा था। 'राष्ट्रीयता' और उसके द्वारा 'व्यक्तित्व' के नाश से पश्चिमी सभ्यता को एक ऐसा क्षय लग चुका है जिससे वह मरे बिना नहीं बच सकती।

व्यक्ति राष्ट्र का ही गुलाम नहीं है, व्यक्ति 'व्यक्ति' का भी गुलाम बन रहा है। योरुप में प्रकृतिवाद या जड़वाद का राज्य है जिसका स्वाभाविक परिणाम 'भोगवाद' है। इन्द्रियों का भोग मानव-जीवन का लक्ष्य हो रहा है। मनुष्य की भोगलालसा की कोई समाप्ति नहीं दीखती, वह अपने भोग के लिए दूसरे व्यक्तियों को साधन बनाता है। आधुनिक समाज संगठन में जो रोग है उसके दो बाह्यरूप यान्त्रिकश्रमवाद (Industrialism) और पूंजीवाद (Capitalism) हैं। पुतलीघरों का मालिक होकर एक व्यक्ति अपनी पूंजी बढ़ाता है और हज़ारों मज़दूर उसके भोग का साधन बन रहे हैं। लाखों मज़दूरों के जीवन का केवल यही प्रयोजन है कि वे व्यक्ति के भोग और विलास के साधन बने हुए अपना पसीना बहा रहे हैं। जर्मनी के दार्शनिक इमैनुएल काण्ट ने एक बड़ी सच्चाई प्रकट की थी कि जब एक व्यक्ति दूसरे के भोग का साधन बनता है तभी अनाचार की उत्पत्ति होती है। कहने के लिये आज योरुप में प्रजातन्त्र शासन है, व्यक्तियों की वोटों से सरकार चल रही है, व्यक्तिगत जीवन के महत्व को अनुभव करके गुलामों की प्रथा उठादी गयीहै। पर यह सब होनेपर भी वहां का जनसमाज आहि २ के साथ करुणाक्रन्दन कर रहा है, 'मज़दूरों की दशा

रोमांचकारी है। प्रजातन्त्र सरकार आज मशीनगनों से पूंजीपतियों की रक्षा में लगी हुई है। हैरानी तो यह है कि जितना ही प्रजातन्त्र बढ़ता जाता है उतनी ही जन-समाज की अधिक और अधिक दुर्दशा होती जाती है। राज सभाओं में कानून बनते हैं मज़दूरों की रक्षा के लिए, पर उनकी दशा और भी बिगड़ती जाती है। योरुप के प्रजातन्त्र शासनों से ही असन्तुष्ट होकर उस बोल्शेविज्म का जन्म होता है जो जन्म के साथ ही 'पूंजी' का विरोध करती है, और श्रम के नाम पर खड़ी है। पर कौन नहीं जानता कि बोल्शेविज्म भी मनुष्य समाज की दुर्दशा को दूर करने में असमर्थ हुई है?

श्रीमान् प्रतिदिन अधिक श्रीमान् होते जाते हैं, और निर्धन प्रतिदिन अधिक निर्धन! पुतलीघरों और कोयले की कानों में बच्चों और स्त्रियों को पीड़ित करके, उन्हें तरह २ से सता के उनसे काम लिया जाता है। इस प्रकार काम करते हुए हज़ारों अङ्गहीन होजाते और सैकड़ों जान खोते हैं। भविष्य के इतिहास में यह पाप रक्त के अक्षरों में लिखे जायंगे मनुष्यता की ऐसी अवहेलना इससे पूर्व कभी न हुई थी। मनुष्य-जीवन को इतना तुच्छ कभी नहीं समझा गया था और मानव-हृदय सारे उच्च भावों से शून्य होकर, इस सीमा तक, ऐन्द्रियिक भोग और धन का दास कभी न बना था।

यह अवस्था शोचनीय है, भयानक है, हृदय द्रावक है और तत्काल कोई प्रतीकार चाहती है। पश्चिम जो २ उपाय करता है वे व्यर्थ होते दिखाई देते हैं। निस्सन्देह हमारे समाज संगठन में, समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध में और

व्यक्ति और व्यक्ति के सम्बन्ध में कोई ऐसी मौलिक त्रुटि है जो इस सब दुरवस्था का और मनुष्य-समाज-व्यापी गड़बड़ का कारण है। पहेली कैसे सुलझे? समस्या का समाधान कहां है? वह स्वर्गीय समाज वह युटोपियन आदर्श जिसकी कवियों और दार्शनिकोंने समय२ पर कल्पना की थी क्या कभी चरितार्थ भी होगा? अथवा मनुष्यजाति यौंही अंधेरे में टटोलती रहेगी! उसे वह आदर्श समाज संगठन कैसे प्राप्त होगा जिसमें व्यक्ति और समाज तथा व्यक्ति और व्यक्ति के के सम्बन्धमें समता(harmony)उत्पन्न होजायगी? खोजो और खोजो विचार करो! सब व्यर्थ है, कोई समाधान नहीं मिलता! मनुष्य की बुद्धि भी इसे हल करने में असमर्थ है।

निराशा के अन्धकार के बीच भी प्रकाश है। जहां मनुष्य की बुद्धि की पहुंच नहीं वहां प्रभु का प्रकाश सहारा है। यह बड़ी समस्या है जिसका उत्तर वेद भगवान् 'वर्णाश्रम व्यवस्था' के द्वारा देते हैं। वर्णाश्रमव्यवस्था का पूरा महत्व तभी समझ में आ सकता है जब कि हम इस समस्या के विकट रूप का अनुभव करें। इसी लिये इस निबन्ध में इतने विस्तार से इस समस्या का निरूपण किया गया है।

वर्णव्यवस्था समाज की समस्याओं का उत्तर है और आश्रम व्यवस्था व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं का उत्तर है। वर्ण और आश्रम के सम्बन्ध को ठीक २ समझने से व्यक्ति और समाज का परस्पर सम्बन्ध भी समझ में आजायगा। यहां व्यक्ति और समाज में मुख्य और गौण होने का झगड़ा नहीं है दोनों के बीच एक अपूर्व समन्वय

(harmony) विद्यमान है। परन्तु साथ ही में 'व्यक्तित्व' को वह गौरव पूर्ण स्थान मिल रहा है जिसका समर्थन करने में आज पश्चिम के दार्शनिक व्यर्थ ही इतना श्रम कर रहे हैं क्योंकि जब तक पश्चिमी सभ्यता का ढांचा ही न बदल दिया जावे या जब तक कि जड़वाद का स्थान अध्यात्मवाद और भोग का स्थान तपस्या न ले तब तक 'व्यक्तित्व' का चरितार्थ होना असम्भव ही है।

बहुत से पाश्चात्य लेखकों ने भारतीय साहित्य और सभ्यता पर यह दोषारोपण किया है कि उसमें व्यक्तित्व की झलक (Individualistic Nature बहुत अधिक दिखाई देती है। अधिकतर व्यक्तिगत जीवन के पहलू को लिया गया है। इसी लिये भारत में व्यक्तिगत स्वार्थ के भाव अधिक पाये जाते हैं। व्यक्तित्व को देश और राष्ट्र के नाम पर बलिदान कर देने की बात यहां पर पाई ही नहीं जाती। बहुत से भारतीय लेखकों ने इस दोषारोपण का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। परन्तु मैं इस दोष को स्वीकार करता हूँ और बड़े गर्व और अभिमान के साथ स्वीकार करता हूँ। भारत वासियों में स्वार्थपरता होने और देशभक्ति न होने के जो परिणाम निकाले गये हैं वे चाहे सर्वथा भ्रमपूर्ण हों पर यह सत्य है कि भारतीय साहित्य में 'व्यक्तित्व' की झलक कूट २ कर भरी है। और निस्सन्देह 'व्यक्तित्व' के उद्धार में ही मनुष्य जाति के भविष्य की आशा हो सकती है। परन्तु भारत के 'व्यक्तित्व' के रहस्य को पाश्चात्य लोग नहीं समझ सकते। पश्चिम के इतिहास में जो व्यक्ति और

समाज के अधिकारों का संग्राम हुआ है—उस व्यक्तिगत अधिकार और भारतीय साहित्य में व्यक्तित्व की जो प्रधानता है, उन दोनों में महान् अन्तर है। पश्चिम में बाह्य सांसारिक दृष्टि है। वह विवाद प्राकृतिक भोग के विषय में है। यह व्यक्ति को देश या राष्ट्र के लिये अपने स्वार्थों को अर्थात् अपने व्यक्तिगत ऐन्द्रियिक या शारीरिक सुख को कहां तक छोड़ना चाहिये? परन्तु भारतीय साहित्य के 'व्यक्तित्व' में आध्यात्मिक दृष्टि है। और आध्यात्मिकता को प्रधानता दी गई है न कि व्यक्ति के शारीरिक सुख अथवा साँसारिक जीवन को। इसे कुछ गहराई तक समझना आवश्यक है—

भारतीय समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र या जीवन के प्रत्येक विभाग का स्वरूप निर्णय दार्शनिक बुद्धि से हुआ है। प्रत्येक वस्तु साक्षात् या असाक्षात् रूप से एक दार्शनिक उद्देश्य तक जो मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य है पहुंचाने वाली है। इस लिये यदि हम भारतीय दृष्टि से किसी वस्तु की गहरी मीमांसा करना चाहते हैं तो कम से कम एक क्षण के लिये हमें दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में प्रवेश करना होगा। हमारे जीवन का अन्तिम, चरम, उद्देश्य क्या व्यक्तिगत है अथवा समाजसम्बन्धी? इस प्रश्न का निश्चित असन्दिग्ध उत्तर है कि 'व्यक्तिगत', क्योंकि चाहे हम जीवनके किसी क्षेत्र में हों, आर्यसंस्कृति वारम्बार पुकार कर कहती है कि हमारा अन्तिम ध्येय इस सांसारिक जीवन को पार करके परम पद तक पहुंचना है और इसी जन्म में पहुंचना है।

'न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'

यदि 'आत्मा' को इसी जन्म में न जाना तो बड़ी आफ़त है, यह शब्द हृदय की कैसी तीव्र वेदना को प्रकट कर रहे हैं! यह परम उद्देश्य और अन्य सब उद्देश्य गौण हैं। मनुष्य का सामाजिक जीवन भी इसी महान् उद्देश्य का साधन मात्र है. संसार का सारा जीवन - सबकुछ-इस लिये है कि मनुष्य अपनी आत्मा की रक्षा कर सके। एक बहुत सुन्दर रहस्य-पूर्ण चाणक्य का श्लोक चला आता हैः—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलंत्यजेत्
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।

एक व्यक्ति के स्वार्थ को परिवार के स्वार्थ के लिये छोड़ दे और परिवार के स्वार्थ को ग्राम के लिये और ग्राम के स्वार्थ को देश के लिये पर आत्मा के लिये सब पृथ्वी को छोड़ दे।

यह कैसा व्यक्तिगत स्वार्थ का सिद्धान्त है! पर मैं कहता हूं इसी में आदर्श स्वार्थ त्याग है यहां 'आत्मा के लिये' इस का अर्थ यह नहीं है कि 'व्यक्तिगत ऐन्द्रियिक भोगों के लिये' प्रत्युत प्रयोजन यह है कि आध्यात्मिक उन्नति के लिये। यह तो बतला दिया कि व्यक्ति या परिवार के छोटे २ स्वार्थों को उस से बड़े स्वार्थों के आगे अर्पण कर देना चाहिये परन्तु मनुष्य अपनी 'आत्मा' की रक्षा के लिये सारे भूमण्डल को तिलाञ्जलि दे दें। 'नात्मानमवसादयेत्' आत्मा पर चोट न आने दे। यदि मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति अथवा आत्मिकगुण

सत्य सदाचार आदि के नाश का प्रश्न हो तो चाहे मनुष्य जाति रसातल को क्यों न चली जावे उसे अपने सत्य की रक्षा करना चाहिये। जो इस प्रकार 'आत्मा' की रक्षा करने वाला है वही 'समाज' का भी सच्चा उपकारक हो सकता है क्योंकि वह 'आत्मा' के नाम पर अपने ऐन्द्रियिक भोगों और स्वार्थों पर भी विजय पा लेता है। इस लिये आध्यात्मिक रूप में 'व्यक्तित्व' का महत्व न केवल समाज के अधिकारों का अविरोधी ही है प्रत्युत 'समाज के अधिकारों का समर्थक है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज में समन्वय (Hormony) उत्पन्न हो जाता है।

व्यक्तिगत आत्मोन्नति स्वार्थ का सिद्धान्त नहीं किन्तु सच्चा उपकार उसी में हो सकता है। जो मनुष्य प्राणि-मात्र या देश की सेवा करता हुआ भी समझता है कि यह सब मेरी आत्मिक उन्नति के लिये है वही सच्चा परोपकारी है। जो दूसरे की भलाई करते हुये यह समझता है कि यह मैं परोपकार कर रहा हूं उसका 'एहसान' रूपी मूल्य लेने के कारण सारा परोपकार नष्ट हो जाता है। बुद्धभगवान् ने कहा था कि जिस मनुष्य की भलाई करो स्वतः उसका उपकार मानो क्योंकि उसने तुम्हें आत्मिक उन्नति का अवसर दिया। इस प्रकार आत्मोन्नति चाहने वाला रात दिन मनुष्य समाज की सेवा करता है पर साथ ही वह समाज की सेवा उसकी आत्मोन्नति का भी साधन है अतएव व्यक्तिगत स्वार्थ भी है। व्यक्ति और समाज यहाँ एक ही रेखा पर हैं, नहीं, एक ही नदी के दो किनारे

हैं एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। वही काम समाजसेवा है वही व्यक्तिगत स्वार्थ है। परन्तु यह सब तभी संभव है जब कि 'व्यक्तित्व' को आध्यात्मिक रूप में समझा जावे। जब ऐन्द्रियिक भोग जीवन का उद्देश्य हो जाता है तब यह असम्भव है कि व्यक्ति और समाज किम्वा व्यक्ति और व्यक्ति में परस्पर विरोध उत्पन्न न हो। इस लिये मौलिक सिद्धान्त यह है कि राजनीति, समाज शास्त्र, दर्शन शास्त्र सबकी दृष्टि से इस जीवन का महान् उद्देश्य—

व्यक्तिगत आत्मविकाश !

है। इस आर्य आदर्श को, इस वैदिक रहस्य को पश्चिम सभ्यता ने भुला दिया है। आज पश्चिमी सभ्यता उन्नति के क्षेत्र में दौड़ रही है। निस्सन्देह प्रबल वेग से दौड़ रही है। पर किस ओर ? बिना उद्देश्य के एक अन्धेरे गढ़े की ओर जिसमें गिरकर वह मर जायगी ? अब और तब गिरना चाहती है, यदि एक साथ उसकी गति न रुकी ! भला इन सब आविष्कारों का पारस्परिक युद्धों का, रात दिन होने वाली अनर्थक क्रियाशीलता का, जिसके कुत्सित कोलाहल से सारा आकाश भरगया है, उद्देश्य क्या है। एक कल्पित वस्तु राष्ट्र की उन्नति ! उसके धन की उन्नति, जहाज़ों और सेनाओं की उन्नति ! सोने के सिक्कों की उन्नति ! यह सब सामान कुछ व्यक्तियों के थोड़े से पूंजीपतियों के-ऐन्द्रियिक भोग के लिये है। जिसका अर्थ यह है कि बिचारे गरीब, जो कि राष्ट्र के बनाने वाले हैं अपना पसीना बहाते हैं और फिर भी वे रोटी, और कपड़ों के लिये तरस रहे हैं तड़फ

रहे हैं। सारे राष्ट्र के रक्त की आहुति ले कुछ पूंजी पतियों का तर्पण होता है! इसका नाम प्रजातन्त्र है! इसी के लिये देशभक्ति और राष्ट्रभक्ति की याचना है। लाखों मनुष्य युद्ध की आग में कीड़ों की तरह झोंके जाते हैं। इतिहास में पहिले ऐसा पैशाचिक ताण्डव नृत्य कभी न हुआ था।

आज कोने २ से अशान्ति की कर्कशध्वनि सुनाई देती है। राष्ट्र २ परस्पर खून की नदियां बहाने को तैयार हैं। समुद्र और व्यापार की समस्यायें हल होती नहीं दिखाई देतीं। धन और पूंजी का युद्ध लगातार चल रहा है। हेग की शान्ति परिषद् तो व्यर्थ हो ही चुकी थी पर अब करोड़ों मनुष्यों के रक्त की आहुति लगकर जिस 'लीग आफ नेशन्स' की स्थापना हुई थी वह भी व्यर्थ हो चुकी है। आधुनिक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल होता नहीं दिखाई देता। अशान्त व्याकुलहृदय पूंछने लगता है कि क्या मनुष्य जाति का जीवन भूलभुलैयों में पड़कर भटकता ही रहेगा या कोई सुनिश्चित कर्त्तव्य रेखा भी मिल सकेगी? यह प्रश्नों का प्रश्न है यह वही पुरानी पहेली है। इसके उत्तर में मुझे—

कोपर्निकस का सिद्धान्त

याद आता है कि जर्मन ज्योतिषी कोपर्निकस से पहिले तारों की गति के जितने समाधान किये गये थे। उनमें यह माना गया था कि पृथ्वी जिस पर से दर्शक तारों को देखता है स्थिर है और ग्रह गण उसके चारों ओर घूम रहे हैं।

यही मान कर टालेमी आदि प्राचीन पश्चिमी ज्योतिषियों ने ने अनेक समाधान किये थे पर उनमें से कोई भी संतोषजनक न होसका प्रत्येक खण्डित होता गया। परन्तु कोपर्निकस ने ज्योतिष की काया ही पलट दी जबकि उसने इस रहस्य को प्रकट किया कि तारे नहीं बल्कि पृथ्वी मण्डल ही (जिस पर से मनुष्य तारों की गति को देखते हैं अथवा कहना चाहिये कि स्वतः मनुष्य ही जो तारों को देख रहा है) घूम रहा है। जिस गति का समाधान बाह्य तारका-जगत् में ढूंढ़ा जा रहा था वह गति वस्तुतः पृथ्वी की है। ठीक इसी प्रकार की क्रान्ति मनोविज्ञान के क्षेत्र में जर्मन दार्शनिक काण्ठ ने की थी। उससे पहिले दार्शनिकों के समय से यह प्रश्न चला आता है कि ज्ञान क्योंकर बाह्य विषयों के अनुरूप होता है? इसका समाधान पुराने दार्शनिक बाह्य दृष्टि से सोचते थे पर कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं होसका। पर काण्ट ने बतलाया कि समस्या का समाधान बाहर नहीं प्रत्युत हमारे भीतर ही है। यह नहीं कि बाह्य विषयों के अनुरूप ज्ञान है प्रत्युत हमारे अपने ज्ञान के अनुरूप ही बाह्य विषय बन जाते हैं। पर हम इस दार्शनिक गहराई में नहीं जाना चाहते। काण्ट अपने मनोविज्ञान सम्बन्धी समाधान को कोपर्निकस का समाधान बतलाता है। मैं कहता हूं कि आधुनिक युग की बड़ी समस्या का 'कोपर्निकस का समाधान वैदिक धर्म में विद्यमान है। आधुनिक अशान्ति और गड़बड़ कानूनों और कान्फ्रेंसों से दूर नहीं हो सकती। नयो २ योजनायें और प्रस्ताव व्यर्थ हैं। उस पहेली का समाधान एक 'है

और एक ही है और आज भी वह हमें प्राचीन भारत के अशान्त जङ्गलों से सुनाई देरहा है :—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः

'आत्मा का दर्शन करो'-जब तक हमारा दृष्टिकोण आध्यात्मिक न होगा अशान्ति दूर नहीं हो सकती। मनुष्य-समाज में एक भारी क्रान्ति मची हुई है। हम उसे एक जगह रोकते हैं तो वह दूसरा छेद करके फूट पड़ती है। इस क्रान्ति की औषधि व्यक्तिगत जीवन की आत्मिक उन्नति में है। पश्चिम को इस समय कान्फ्रेंसों की आवश्यकता नहीं है प्रत्युत ऐसे 'व्यक्तियों, की जिनने आत्मिक उन्नति की हो। जो सच्चे सदाचारी निर्भय और रागद्वेष रहित हों। यह कितना बड़ा भ्रम है कि आधुनिक सभ्यता में व्यक्तिगत जीवन को 'प्राइवेट' समझ कर सामाजिक जीवन से अलग कर दिया गया है! जिस समाज में व्यक्तिगत जीवन उन्नत नहीं वहां कोई संगठन कोई व्यवस्था फलीभूत नहीं हो सकती। कच्ची ईंटों का मकान चाहे उसमें कैसा ही मसाला लगाया जावे कैसा ही चतुर इञ्जिनियर हो कच्चा ही रहेगा। ईंटों को भट्टे की आग में पकाया जाता है समाज-भवन की व्यक्ति-रूप ईंटों को भी तपस्या और ब्रह्मचर्य की भट्टी में पकाना आवश्यक है। अधुनिक जगत् भोग के कीचड़ में लिपटा हुआ है। उसे तपस्या और ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है। तपस्या और ब्रह्मचर्य से ही व्यक्तिगत जीवन का उद्धार होगा।

मैंने ऊपर के लेख में आधुनिक युग की व्यक्ति और समाज सम्बन्धी कठिन समस्या का विस्तृत वर्णन किया है और संक्षिप्त रीति से उस समस्या के वैदिक समाधान की ओर सङ्केत किया है। अब मैं कुछ विस्तार से बतलाने की चेष्टा करूंगा कि वर्णाश्रम व्यवस्था द्वारा यह समस्या कैसे हल हो सकती है? वैदिक धर्म में व्यक्तिगत जीवन की उन्नति के लिये आश्रम व्यवस्था और सामाजिक संगठन के लिये वर्णव्यवस्था का विधान है।

आश्रम व्यवस्था

व्यक्तिगत जीवन के विकाश में चार भिन्न २ अवस्थायें और चार आश्रम हैं। इन चार आश्रमों का नियमित पालन करने से व्यक्तिगत जीवन अधिक से अधिक उच्च विकाश तक और अन्तिम आदर्श तक पहुंच सकता है। इन आश्रमों में मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त जीवन की व्यवस्था है। यह आश्रम केवल बाह्य रूढ़िमात्र नहीं हैं किन्तु आत्मविकाश की आन्तरिक अवस्था को प्रकट करते हैं जिनमें गहरा तारतम्य है। संसार के सारे साहित्य में या किसी धर्म में आश्रमों जैसी कोई व्यवस्था नहीं पायी जाती। यह आश्रम-प्रणाली वैदिक धर्म की एक बड़ी विशेषता है। इससे पता चलता है कि वैदिकधर्म में व्यक्तिगत जीवन का कितना गौरव समझा गया है? मनुष्य के इस जीवन के और परलोक सम्बन्धी दोनों प्रकार के कर्त्तव्यों की व्यवस्था आश्रम-प्रणाली में विद्यमान है। एक के पश्चात् दूसरे आश्रम में जो क्रमिक विकाश दिखाई देता है उसकी सुन्दरता अद्भुत है। आश्रमों में प्रथम

ब्रह्मचर्याश्रम

है। जन्म से २५ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य का समय है। आधुनिक समय में जो 'शिक्षा' का समय है। इसी को आश्रम व्यवस्था में 'ब्रह्मचर्य' कहा गया है। इस आदर्श के अनुसार शिक्षा का प्रारंभ सात या आठ वर्ष की अवस्था में नहीं होता अपितु जन्म से, नहीं २ गर्भाधान से ही होता है। गर्भाधान के समय से ही माता पिता को आदेश है कि वे ऐसा जीवन व्यतीत करें जिससे बच्चे पर उत्तम संस्कार पड़ें। जन्म के पश्चात् बालक की शिक्षा का अध्यक्ष माता और फिर पिता होता है। ५ से लेकर ८ वर्ष की अवस्था के पश्चात् आचार्य बालक का तीसरा शिक्षक होता है। एक प्रकार से जब वह गुरुकुल में प्रवेश करता है तभी उसका उपनयन और वेदारम्भ संस्कार के पश्चात् नियम पूर्वक ब्रह्मचर्य काल प्रारम्भ होता है। शिक्षा के स्थान में ब्रह्मचर्य शब्द इतना सुन्दर और सारगर्भित है कि उसका संसार की किसी भाषा में अनुवाद नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल 'वीर्य रक्षा' ही नहीं है प्रत्युत शारीरिक, मानसिक, और आत्मिक तीनों विकास 'ब्रह्मचर्य' के अन्तर्गत हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि तीनों प्रकार की उन्नति की आधार शिला 'वीर्य रक्षा' है। इसी लिये ब्रह्मचर्य शब्द से अधिकतर और उचित रीति पर वीर्य रक्षा का ही ग्रहण होता है। 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ है क्या? ब्रह्म के लिए आचरण, अथवा ब्रह्मप्राप्ति के लिये व्रतविशेष अद्भुत बात है कि शिक्षाकाल में भी अन्तिम लक्ष्य सामने है। विद्यार्थी ब्रह्म को लक्ष्य में रखकर अपनी शक्ति को बढ़ाता है। 'ब्रह्म' का तेजरूप वह

धारण करना चाहता है। इसी लिए आचार्य ब्रह्मचारी को अपना गुरुमन्त्र बतलाता है जो कि गायत्री है। जिसमें यह कामना है कि "हम उस दिव्य पिता के वरणीय तेजस् को ग्रहण करें"। गायत्री मन्त्र अद्भुत है सङ्कल्प शक्ति पूर्वक उस का जाप ब्रह्मचारी के अन्दर प्रति दिन 'ब्रह्मशक्ति' को बढ़ाने का अद्भुत व्यायाम है। केवल किताबें घोटना इसका लक्ष्य नहीं है प्रत्युत वह अपनी सारी शक्तियों का विकाश कर के 'ब्रह्मशक्ति' प्राप्त करता है। कितना महान् और उच्च आदर्श है।

ब्रह्मचर्य गृहस्थाश्रम की और सामाजिक जीवन की-क्यों कि गृहस्थाश्रम से ही सामाजिक जीवन का सम्बन्ध है-तैयारी का समय है। गृहस्थाश्रम में संसार में ललचाने वाले प्रलोभन सामने आते हैं इस लिये वह कठोर जीवन, तपस्या और संयम का अभ्यास करता है। यह सिपाही की युद्ध की तैयारी है। आधुनिक जीवन में भोग और विलास क्यों बढ़ रहा है? इसी लिये कि शिक्षा में ब्रह्मचर्य और तपस्या का अभाव है। इसी लिये आधुनिक युग में गुरुकुलों और आश्रमों की आवश्यकता है। गुरुकुल में रंक और राजा के सन्तान समान रूप से भाई २ की तरह रहते हैं। उनका खाना, पीना, पहिनना एकसा है। मेरी सम्मति में है कि यह समानत, भ्रातृता (Equality and Fraternity) और प्रजातन्त्र का व्यवहारिक जीवन में अभ्यास है। आधुनिक काल में 'प्रजातन्त्र' नाम का इतना कोलाहल होने पर भी सच्चे प्रजातन्त्र का पता नहीं

है। क्योंकि वास्तविक जीवन में प्रजातन्त्रता और समानता के भाव आने नहीं पाते। प्राचीन काल में 'प्रजातन्त्र' की आधारशिला गुरुकुल ही थे। इसलिये कृष्ण और सुदामा का दृष्टान्त संभव था। मैंने ऊपर कहा है कि आधुनिक क्रान्ति की जड़ में ऐन्द्रियिक भोग है, धन का असमविभाग है। श्रम पर पूंजी का अत्याचार है और पूंजीपतियों को असीम भोगलालसा है। इस दशा में समानता और प्रजातन्त्र का चरितार्थ होना स्वप्न के समान है! फिर क्या यह कथन ठीक नहीं कि इस सारी क्रान्ति का इलाज ब्रह्मचर्य, और गुरुकुल हैं। गुरुकुल में होने वाला तपस्या का कठोर जीवन और भ्रातृता का आदर्श है! ब्रह्मचर्य के पश्चात् मनुष्य

गृहस्थाश्रम

में प्रवेश करता है। यह समय सांसारिक भोग के प्रलोभनों का समय है, संसार की ललचाने वाली शक्तियों से घोर युद्ध होना है। यद्यपि 'तपस्या' और संयम के द्वारा इस आश्रम में शैतान से लड़ने की पूरी तैयारी की गयी है फिर भी मैदान में साधारण व्यक्ति के लिये अकेले (Singlehanded) स्थिर रहना कठिन है। इसलिये एक साथी की आवश्यकता है ऐसा मुझे वैदिक विवाह का आदर्श प्रतीत होता है। वैदिक विवाह का उद्देश्य भोग तो कदापि है ही नहीं। एक उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति है क्योंकि सन्तान के द्वारा पितृ ऋण को उतारता है। मनुष्यसमाज के प्रवाह को स्थिर रखना है। ऋषियों ने सन्तानोत्पत्ति को पवित्र धार्मिक कर्त्तव्य माना है। परन्तु मेरी समझ में इससे भी बड़ा उद्देश्य आत्मविकाश में पति

पत्नी का पारस्परिक सहयोग है। मैं समझता हूं कि गृहस्थाश्रम ब्रह्मचर्य का विरोधी नहीं अपितु इस जीवन में जहाँ कि मनुष्यों की वृत्तियों के विक्षिप्त होने का बहुधा अवसर होता है पत्नी ब्रह्मचर्य में सहायक होती है और होनी चाहिये। स्त्री को भोग का साधन समझना, इससे बढ़कर मनुष्यता के इतिहास में मुझे कोई घृणित और पापपूर्ण भाव प्रतीत नहीं होता।

गृहस्थाश्रम व्यक्ति-जीवन का कर्मक्षेत्र है। इस में आकर वह सामाजिक जीवन में प्रवेश करता है। ब्रह्मचर्य की भट्टी में व्यक्ति रूपी ईंटें जब तक पक कर लाल न हो जावें, वे समाज के भवन के योग्य नहीं हो सकतीं। इस लिये सामाजिक जीवन में प्रवेश करने से पूर्व 'ब्रह्मचर्य' का पालन आवश्यक था। वे ही व्यक्ति सामाजिक जीवन के अधिकारी थे जिन्होंने ब्रह्मचर्य और तपस्या का अभ्यास किया हो। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वेद में 'दस्यु' का अर्थ 'Outlaw' अर्थात् समाज की व्यवस्था से बहिष्कृत व्यक्ति है। प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक जीवन का अङ्ग नहीं बनाया जाता था। जिन व्यक्तियों ने व्रतपालन और संयम न किया होता था जो यज्ञशून्य होते थे और अब्रह्मचारी होते थे वे समाज में प्रवेश न कर सकते थे। वेद कहता है।

मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः

जो इन्द्रियों के गुलाम हैं वे हमारे यज्ञ में अर्थात् हमारे समाज में प्रवेश न करें। कितनी उच्च व्यवस्था है। समाज को बनाने वाले वे ही व्यक्ति हो सकते हैं जिन्होंने तपस्या और

संयम का पालन किया हो। क्या यदि आधुनिक समाज ऐसे व्यक्तियों का बना हुआ हो तो वे समस्यायें जिनसे आज विचारकों का मस्तिष्क चक्कर खा रहा है स्वयं हल न हो जावें ?

जैसा कि ऊपर कहा गया है गृहस्थाश्रम से ही सामाजिक जीवन का सम्बन्ध है। इस लिये वर्णव्यवस्था जो कि सामाजिक संगठन का ही रूप है गृहस्थाश्रम से सम्बन्ध रखती है।

मनुष्यसमाज का स्वरूप क्या होना चाहिये, यह समाजशास्त्र की एक महान् समस्या है। अनेक विचार इस विषय में प्रस्तुत हुये हैं परन्तु कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं दिया जा सका है। पिछले वर्षों में सोशलिज्म का स्वप्न बहुत से पाश्चात्य विचारक ले रहे थे। उसी का विकट और व्यावहारिक स्वरूप रूस में 'बोल्शेविज्म' के रूप में हमारे सामने आया है। रूस में क्रियात्मक रूप से भी समाना-धिकार और समविभाग का सिद्धान्त प्रचलित होने पर भी कोई सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकला है इस लिये पश्चिम में समाजसंगठन के स्वरूप का अभी तक आदर्श स्थिर नहीं हुआ है। वैदिकधर्म इस बड़ी समस्या का समाधान

वर्णव्यवस्था

द्वारा करता है। वर्ण व्यवस्था की पश्चिमीय समाज संगठन की सब योजनाओं की अपेक्षा एक विशेषता यह है कि वह आध्यात्मिक अर्थात् मानव-जीवन के आध्यात्मिक तत्व पर निर्भर है। उदाहरणार्थ पश्चिम के बोल्शेविज्म आदि में

केवल शरीर की वाह्य सुख सामग्री को लक्ष्य में रक्खा गया है पर वर्णव्यवस्था में मनुष्य के आन्तरिक जीवनकी अवस्था पर विचार है। केवल वाह्य सामग्री ही सब कुछ नहीं।

इसके अतिरिक्त बोल्शेविज़म में सब के समान होने की अप्राकृतिक कल्पना की गई है। यह स्पष्ट है कि सब मनुष्यों को शारीरिक श्रम को आधार मानकर समान लेवल पर ले आना असंभव ही है। वर्णव्यवस्था में जैसा कि मैं आगे चलकर बतलाऊंगा कि अधिकार सम्बन्धी समानता है और किसी प्रकार की मनुष्य २ में उच्चता और नीचता नहीं। पर साथ ही उनके कर्म और आचरण में जो भेद है उसको भी भलीभांति समझा गया है। मनुष्य और मनुष्य की बुद्धि और योग्यता में भेद है। सब मनुष्यों को एक ही तराज़ू से तोलना प्राकृतिक नियमों से वैर करना है।

फिर आधुनिक समाज की तरह सारे मनुष्य जीवन का लक्ष्य 'धन' ही न था। धन का उपार्जन केवल एक 'वर्ण' का कर्त्तव्य था। ब्राह्मण जो कि उच्च वर्ण समझा जाता था — यद्यपि उच्च होने का यह अर्थ नहीं कि उसे दूसरों से अधिक अधिकार प्राप्त हों—धनोपार्जन से कोई सम्बन्ध न रखता था। इस एक बात से वर्णव्यवस्था का आधुनिक समाज संगठन से बड़ा भेद होजाता है। इस विषय में अधिक आगे चलकर बतलाया जायगा। वर्णव्यवस्था की एक विशेषता यह है कि उसमें विद्या शक्ति और धन को एक ही जगह एकत्रित नहीं किया गया है। आधुनिक समाज में जो उच्च श्रेणी के लोग हैं सब कुछ उन्हीं के हाथ में है, इस लिये इतना

अनर्थ होता है। परन्तु वर्णव्यवस्था में तीन प्रकार की शक्तियों को तीन भिन्न २ स्थानों में रक्खा गया है।

ब्राह्मणादि चार वर्णों का उल्लेख 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीदित्यादि' मन्त्र में आता है। मैं यहाँ इस मन्त्र की व्याख्या नहीं करना चाहता। इसके अनुसार यह चार वर्ण ईश्वर के भिन्न २ अङ्गों से उत्पन्न समझे जाते थे परन्तु ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र में 'समाज' का निरूपण बतला कर एक गहरे दार्शनिक तत्त्व को प्रकट किया है। योरप के समाज शास्त्र के इतिहास को पढ़ें तो पता चलता है कि वहां बहुत दिनों तक यही अशुद्ध विचार बना हुआ था कि समाज व्यक्तियों का केवल समूह है, कोई नई वस्तु नहीं किन्तु बहुत पर्यालोचन के बाद पाश्चात्य समाजशास्त्र इस परिणाम पर पहुंचा कि मनुष्य समाज सजीव वस्तु के समान है, और इसमें जीवन वृद्धि (Organic Growth) के समान विकाश पाया जाता है। यह क्या आश्चर्य की बात नहीं कि जिस परिणाम पर शताब्दियों तक विचार करने के पश्चात् पाश्चात्य समाजशास्त्र अब पहुंच पाया है वही समाज के 'जीवित' रूप होने का निरुपण ऋषि दयानन्द ने किया। अर्थात् समाज एक जीवित शरीर है जिसके ब्राह्मणादि वर्ण अङ्ग हैं। चारों वर्णों के विषय में मैं कुछ संक्षेप से कहूंगा।

ब्राह्मण—प्रथम वर्ण है। वह मनुष्य जीवनकी सर्वोच्च शक्ति विद्या का प्रतिनिधि है। किन्तु यह विद्या उसके जीवन में चरितार्थ होनी चाहिये। उसका बाह्य जीवन तपस्या और त्याग से युक्त होना आवश्यक है। धन और भोग के पीछे

जाते ही उसका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है। यह नहीं कि दुकान भी खोल ली है और 'शर्मा' भी बनने का शौक है।

क्षत्रिय-जाति की भुजाओं के समान है। जाति का शासन और रक्षा दोनों उसके हाथ में हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि वह किसी दशा में भी धनसञ्चय करने में अपनी शक्ति नहीं लगा सकता।

वैश्य-वर्ण 'धन' का प्रतिनिधि है। आधुनिक समाज अपना आदर्श 'धन' को बना रक्खा है। परन्तु प्राचीन समय में मनुष्यों को केवल एक चौथाई भाग अर्थात् गृहस्थाश्रम और उसका भी चौथाई भाग वैश्य वर्ण धनोपार्जन में लगता था। इस प्रकार जनता का केवल सोलहवां भाग धनोपर्जन के काममें लगता फिर भी रोटी कपड़े के लिये इतनी त्राहि २ न मच रही थी।

शूद्र- के विषय में मैं एक बात कहना चाहता हूँ। शूद्र तीनों वर्णों का सहायक है। उसको तीनों वर्णों की कुछ न कुछ योग्यता होनी चाहिये उसकी वर्णों में वही स्थिति है जो वेदों में अथर्ववेद की।

चारों वर्णों में कोई उच्च और नीच नहीं समझा जा सकता। किसी को कम या अधिक अधिकार (privilege) हो यह बात नहीं है। शूद्र भी वेद पढ़ सकता है और ब्राह्मण भी बन सकता है। एक अद्‌भुत बात है जो कि घृणित जाति बन्धन के होते हुये भी हिन्दूसमाज में पाई जाती है। एक शूद्र या एक भङ्गी भी यद्यपि वह वेद और कुछ भी पढ़ने का अधिकारी नहीं पर फिर भी वह अध्यात्मविद्या प्राप्त कर

सकता है। ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर के मोक्ष पा सकता है। ऐसा प्रचलित हिन्दू विश्वास है। साथ ही प्रचलित हिन्दू विचारानुसार 'वेद' जिस से कि कर्मकाण्ड का मतलब लिया जाता है सर्वोच्च नहीं प्रत्युत 'ज्ञानकाण्ड' सब से उच्च है और उस ज्ञानकाण्ड का शूद्र को भी अधिकार है? पर क्या यह एक अद्भुत बात नहीं है?

वर्णव्यवस्था के विषय में इतना कहने के पश्चात् अब कुछ शब्द वानप्रस्थाश्रम के विषय में आवश्यक हैं। ब्रह्मचर्य गृहस्थ की तैयारी है इसी प्रकार वानप्रस्थाश्रम सन्यासाश्रम की। ब्रह्मचर्य एक विद्यालय है और वानप्रस्थाश्रम भी एक प्रकारका अध्यात्म-विद्यालय है। यह सच्चे अर्थों में (Post-graduate study) स्नातक होने के अनन्तर का अध्ययन है। ब्रह्मचर्य काल में सब विद्यायें पढ़ी जाती हैं। गृहस्थ में उनका अनुभव होता है। और तब मनुष्य वानप्रस्थाश्रममें जाकर अध्यात्मविद्या का अधिकारी होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि अध्यात्म-विद्या में सभी पुरुष पारङ्गत हो जावें। यत्न करने पर भी बहुतों को सफलता नहीं हो सकती इस लिये सन्यासाश्रम में प्रवेश का अधिकार सब को नहीं है। वस्तुतः जिनका बहुत उच्च जीवन होता है वे वानप्रस्थाश्रम के पश्चात् सन्यासाश्रम के अधिकारी होते हैं। बहुत से पुरुषों को मृत्युपर्यन्त वानप्रस्थाश्रम में ही रहना होगा। इसका एक परिणाम निकलता है कि सब से अधिक पुरुष वानप्रस्थाश्रम में ही होंगे क्यों कि गृहस्थाश्रम से साधारण नियम के अनुसार सभी वानप्रस्थ में आ सकते हैं परन्तु इससे आगे सन्यास में थोड़े

से ही जा सकते हैं। परन्तु आजकल अवस्था ठीक उलटी है। सब से कम वानप्रस्थाश्रम में आते हैं। लोगों ने गृहस्थाश्रम से सन्यास ही में छलांग मारने का सीधा शार्टकट बना लिया है। इसका परिणाम इतना हानिकारक दूषित, और मैं कहूंगा कि घृणित हुवा है कि कहा नहीं जा सकता। सन्यास में जाकर सब उपदेशक हो जाते हैं। वानप्रस्थ में रहकर कोई आत्मचिन्तन नहीं करता। इस लिये आध्यात्मिक जीवन का लोप होरहा है। मैं कहना चाहता हूं कि आज आध्यात्मिक गुरु ढूंढ़ने से भी नहीं मिलते। प्राचीन आर्यवर्त्त वानप्रस्थियों से भरा हुआ था।

बहुत से पाश्चात्य लेखक प्राचीन भारतीयों को जङ्गली कहते हैं। वे तो दूसरे मतलब से कहते हैं पर बात ठीक है प्राचीन भारतवासी जङ्गल में रहते ही थे। रवीन्द्रनाथ टागोर ठीक ही कहते हैं कि भारत की सभ्यता का विकाश नगर की चारदीवारी के भीतर नहीं अपितु जङ्गलों में हुआ था। भारत के मस्तिष्क की सब से सुन्दर और बहुमूल्य रचना उपनिषद् है और उपनिषदें जङ्गल में तैयार हुई थीं। उपनिषद् आरण्यकों का भाग है। और आरण्यक 'अरण्य' की बनी पुस्तकें हैं, भारत में नागरिक सभ्यता के साथ २ जङ्गल में अध्यात्मविकाश हुआ था। आज वानप्रस्थाश्रम की आवश्यकता और भी अधिक है क्योंकि हमारी बाह्य वृत्ति होरही है।

इसके पश्चात् सन्यासाश्रम है। सन्यासाश्रम की उच्चता और महत्त्व के विषय में जो कुछ मैं अनुभव करता हूं शब्दों

में प्रकट नहीं होसकता। हिमालय की ऊंची चोटियां धुंधली २ दीख रहीहैं; मैं उन्हें चित्रित नही कर सकता। जब मैं सन्यास का स्वरूप सोचताहूं तो मुझे 'निट्शे'के 'सुपरमैन'का विचार याद आता है। आदर्शवाद की कल्पना में चरम सीमा 'सन्यासाश्रम' है। जब मैं सन्यास आश्रम की कल्पना करता हूं तो उसकी आध्यात्मिक सुन्दरता पर हृदय मोहित हो जाता है। इस विश्व के विकाश में मनुष्य सर्वोच्च है और मनुष्यता के विकाश की पराकाष्ठा सन्यास है। इसलिये प्रभु की रचना का सब से सुन्दर सुगन्धित फूल सन्यासाश्रम है। एक सन्यासी सारे संसार को हिला सकता है! क्या यह 'सन्यास' वर्णाश्रम व्यवस्था का सर्वोच्च उपहार नहीं है? इस विश्व के विकाश में सन्यासाश्रम से बढ़कर कुछ नही है, यदि आज ऐसे परम उच्च पद तक पहुचे हुये दो चार भी सन्यासी मिल सकते तो निस्सन्देह यह नारकीय भूमण्डल फिर स्वर्ग बन जाता।

इस निबन्ध में केवल संक्षेप से यह बतलाया गया है कि आधुनिक व्यक्ति और समाज की महती समस्या का कैसा सुन्दर समाधान वर्णव्यवस्थाके द्वारा मिलता है। इस से पता चलता है कि प्राचीन आर्यवर्त्त ने केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं प्रत्युत समाजशास्त्र के क्षेत्र में भी उन आश्चर्य-जनक सिद्धान्तों का विकाश किया था जो अब भी मनुष्य जाति की बड़ी समस्या को हल कर सकते हैं। आज मनुष्य जाति बिखरी, बिगड़ी और तितर बितर अवस्था में है मनुष्य समाज जीर्ण शीर्ण एक खण्डरात के रूप में दिखाई

देता है, उसके स्थान में वर्णाश्रम व्यवस्था का सुन्दर भवन कैसे बन सकेगा? उत्तर केवल एक है कि उस भवन के लिये 'ब्रह्मचर्य' की बुनियाद रखनी होगी और इसलिये ऋषि दयानन्द ने 'ब्रह्मचर्य' पर इतना ज़ोर दिया और इसी लिये ऋषि दयानन्द ने अपने सारे जीवन को ब्रह्मचर्य का दृष्टान्त कर दिखाया! आज एक नये युग के आरम्भ में पूर्व और पश्चिम में मनुष्य जाति को कोई नई दीक्षा लेनी है तो वह निश्चय यह है:—

ब्रह्मचर्य
संयम
तपस्या

प्रभात पुस्तक भण्डार के लिये श्री सत्येन्द्रनाथ जी द्वारा
प्रभात प्रेस मेरठ में मुद्रित तथा प्रकाशित हुआ